।। ॐ श्री परमात्मने नमः ।।

यथार्थ गीता

(श्रीमद्भगवद्गीता)

अथ प्रथमोऽध्यायः

धृतराष्ट्र उवाच

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत सञ्जय।।१।।

धृतराष्ट्र ने पूछा - ''हे संजय! धर्मक्षेत्र, कुरुक्षेत्र में एकत्र युद्ध की इच्छावाले मेरे और पाण्डु के पुत्रों ने क्या किया?''

अज्ञानरूपी धृतराष्ट्र और संयमरूपी संजय। अज्ञान मन के अन्तराल में रहता है। अज्ञान से आवृत्त मन धृतराष्ट्र जन्मान्ध है; किन्तु संयमरूपी संजय के माध्यम से यह देखता है, सुनता है। वह समझता है कि परमात्मा ही सत्य है, फिर भी जब तक इससे उत्पन्न मोहरूपी दुर्योधन जीवित है, इसकी दृष्टि सदैव कौरवों पर रहती है, विकारों पर ही रहती है।

शरीर एक क्षेत्र है। जब हृदय-देश में दैवी सम्पत्ति का बाहुल्य होता है, तो यह शरीर धर्मक्षेत्र बन जाता है और जब इसमें आसुरी सम्पत्ति का बाहुल्य होता है, तो यह शरीर कुरुक्षेत्र बन जाता है। 'कुरु' अर्थात् करो - यह शब्द आदेशात्मक है। श्रीकृष्ण कहते हैं - प्रकृति से उत्पन्न तीनों गुणों द्वारा परवश होकर मनुष्य कर्म करता है। वह क्षणमात्र भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता। गुण उससे करा लेते हैं। सो जाने पर भी कर्म बन्द नहीं

होता, वह भी स्वस्थ शरीर की आवश्यक खुराक मात्र है। तीनों गुण मनुष्य को देवता से कीटपर्यन्त शरीरों में ही बाँधते हैं। जब तक प्रकृति और प्रकृति से उत्पन्न गुण जीवित हैं, तब तक 'कुरु' लगा रहेगा। अतः जन्म-मृत्युवाला क्षेत्र, विकारोंवाला क्षेत्र कुरुक्षेत्र है और परमधर्म परमात्मा में प्रवेश दिलानेवाली पुण्यमयी प्रवृत्तियों (पाण्डवों) का क्षेत्र धर्मक्षेत्र है।

पुरातत्त्वविद् पंजाब में, काशी-प्रयाग के मध्य तथा अनेकानेक स्थलों पर कुरुक्षेत्र की शोध में लगे हैं; किन्तु गीताकार ने स्वयं बताया है कि जिस क्षेत्र में यह युद्ध हुआ, वह कहाँ है। **'इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।' (अ. १३/१)** ''अर्जुन! यह शरीर ही क्षेत्र है और जो इसको जानता है, इसका पार पा लेता है, वह क्षेत्रज्ञ है।'' आगे इन्होंने क्षेत्र का विस्तार बताया, जिसमें दस इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, अहंकार, पाँचों विकार और तीनों गुणों का वर्णन है। शरीर ही क्षेत्र है, एक अखाड़ा है। इसमें लड़नेवाली प्रवृत्तियाँ दो हैं- 'दैवी सम्पद्' और 'आसुरी सम्पद्', 'पाण्डु की सन्तान' और 'धृतराष्ट्र की सन्तान', 'सजातीय और विजातीय प्रवृत्तियाँ'।

अनुभवी महापुरुष की शरण जाने पर इन दोनों प्रवृत्तियों में संघर्ष का सूत्रपात् होता है। यह क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का संघर्ष है और यही वास्तविक युद्ध है। विश्वयुद्धों से इतिहास भरा पड़ा है; किन्तु उनमें जीतनेवालों को भी शाश्वत विजय नहीं मिलती। ये तो आपसी बदले हैं। प्रकृति का सर्वथा शमन करके प्रकृति से परे की सत्ता का दिग्दर्शन करना और उसमें प्रवेश पाना ही वास्तविक विजय है। यही एक ऐसी विजय है, जिसके पीछे हार नहीं है। यही मुक्ति है, जिसके पीछे जन्म-मृत्यु का बन्धन नहीं है।

इस प्रकार अज्ञान से आच्छादित प्रत्येक मन संयम के द्वारा जानता है कि क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के युद्ध में क्या हुआ? अब जैसा जिसके संयम का उत्थान है, वैसे-वैसे उसे दृष्टि आती जायेगी।

सञ्जय उवाच

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा।
आचार्यमुपसङ्गम्य राजा वचनमब्रवीत्।।२।।

उस समय राजा दुर्योधन ने व्यूहरचनायुक्त पाण्डवों की सेना को देखकर द्रोणाचार्य के पास जाकर यह वचन कहा -

द्वैत का आचरण ही 'द्रोणाचार्य' है। जब जानकारी हो जाती है कि हम परमात्मा से अलग हो गये हैं (यही द्वैत का भान है), वहाँ उसकी प्राप्ति के लिये तड़प पैदा हो जाती है, तभी हम गुरु की तलाश में निकलते हैं। दोनों प्रवृत्तियों के बीच यही प्राथमिक गुरु है; यद्यपि बाद के सद्‌गुरु योगेश्वर श्रीकृष्ण होंगे, जो योग की स्थितिवाले होंगे।

राजा दुर्योधन आचार्य के पास जाता है। मोहरूपी दुर्योधन। मोह सम्पूर्ण व्याधियों का मूल है, राजा है। दुर्योधन - दुर् अर्थात् दूषित, यो धन अर्थात् वह धन। आत्मिक सम्पत्ति ही स्थिर सम्पत्ति है। उसमें जो दोष उत्पन्न करता है, वह है मोह। यही प्रकृति की ओर खींचता है और वास्तविक जानकारी के लिये प्रेरणा भी प्रदान करता है। मोह है, तभी तक पूछने का प्रश्न भी है, अन्यथा सभी पूर्ण ही हैं।

अतः व्यूहरचनायुक्त पाण्डवों की सेना को देखकर अर्थात् पुण्य से प्रवाहित सजातीय वृत्तियों को संगठित देखकर मोहरूपी दुर्योधन ने प्रथम गुरु द्रोण के पास जाकर यह कहा-

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम्।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता।।३।।

हे आचार्य! अपने बुद्धिमान् शिष्य द्रुपद-पुत्र धृष्टद्युम्न द्वारा व्यूहाकार खड़ी की हुई पाण्डुपुत्रों की इस भारी सेना को देखिये।

शाश्वत अचल पद में आस्था रखनेवाला दृढ़ मन ही 'धृष्टद्युम्न' है। यही पुण्यमयी प्रवृत्तियों का नायक है। **'साधन कठिन न मन कर टेका।'** - साधन कठिन नहीं, मन की दृढ़ता कठिन होनी चाहिये।

अब देखें सेना का विस्तार-

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः।।४।।

इस सेना में **'महेष्वासा'** - महान् ईश में वास दिलानेवाले, भावरूपी 'भीम', अनुरागरूपी 'अर्जुन' के समान बहुत से शूरवीर, जैसे-सात्त्विकतारूपी 'सात्यकि', **'विराटः'** - सर्वत्र ईश्वरीय प्रवाह की धारणा, महारथी राजा द्रुपद अर्थात् अचल स्थिति तथा -

धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान्।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः।।५।।

'धृष्टकेतुः' - दृढ़कर्त्तव्य, **'चेकितानः'** - जहाँ भी जाय, वहाँ से चित्त को खींचकर इष्ट में स्थिर करना, **'काशिराजः'** - कायारूपी काशी में ही वह साम्राज्य है, **'पुरुजित्'** - स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों पर विजय दिलानेवाला पुरुजित्, **'कुन्तिभोजः'** - कर्त्तव्य से भव पर विजय, नरों में श्रेष्ठ 'शैब्य' अर्थात् सत्य व्यवहार -

युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान्।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः।।६।।

और पराक्रमी **'युधामन्युः'** - युद्ध के अनुरूप मन की धारणा, **'उत्तमौजाः'**- शुभ की मस्ती, सुभद्रापुत्र अभिमन्यु - जब शुभ आधार आ जाता है, तो मन भय से रहित हो जाता है- ऐसा शुभ आधार से उत्पन्न अभय मन, ध्यानरूपी द्रौपदी के पाँचों पुत्र - वात्सल्य, लावण्य, सहृदयता, सौम्यता, स्थिरता सब के सब महारथी हैं। साधन-पथ पर सम्पूर्ण योग्यता के साथ चलने की क्षमताएँ हैं।

इस प्रकार दुर्योधन ने पाण्डव-पक्ष के पन्द्रह-बीस नाम गिनाये, जो दैवी सम्पद् के महत्त्वपूर्ण अंग हैं। विजातीय प्रवृत्ति का राजा होते हुए भी 'मोह' ही सजातीय प्रवृत्तियों को समझने के लिए बाध्य करता है।

दुर्योधन अपना पक्ष संक्षेप में कहता है। यदि कोई बाह्य युद्ध होता तो अपनी फौज बढ़ा-चढ़ाकर गिनाता। विकार कम गिनाये गये; क्योंकि उन पर विजय पाना है, वे नाशवान् हैं। केवल पाँच-सात विकार बताये गये, जिनके अन्तराल में सम्पूर्ण बहिर्मुखी प्रवृत्ति विद्यमान हैं। जैसे-

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम।
नायका मम सैन्यस्य सञ्ज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते।।७।।

द्विजोत्तम! हमारे पक्ष में जो-जो प्रधान हैं, उन्हें भी आप समझ लें। आपको जानने के लिये मेरी सेना के जो-जो नायक हैं, उनको कहता हूँ-

बाह्य युद्ध में सेनापति के लिए 'द्विजोत्तम' सम्बोधन असामयिक है। वस्तुतः 'गीता' में अन्तःकरण की दो प्रवृत्तियों का संघर्ष है। जिसमें द्वैत का आचरण ही 'द्रोण' है। जब तक हम लेशमात्र भी आराध्य से अलग हैं, तब तक प्रकृति विद्यमान है, द्वैत बना है। इस 'द्वि' पर जय पाने की प्रेरणा प्रथम गुरु द्रोणाचार्य से मिलती है। अधूरी शिक्षा ही पूर्ण जानकारी के लिए प्रेरणा प्रदान करती है। वह पूजास्थली नहीं, वहाँ शौर्यसूचक सम्बोधन होना चाहिये।

विजातीय प्रवृत्ति के नायक कौन-कौन हैं?-

भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिञ्जयः।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च।।८।।

एक तो स्वयं आप (द्वैत के आचरणरूपी द्रोणाचार्य) हैं, भ्रमरूपी पितामह 'भीष्म' हैं। भ्रम इन विकारों का उद्गम है। अन्त तक जीवित रहता है, इसलिये पितामह है। समूची सेना मर गई, यह जीवित था। शरशय्या पर अचेत था, फिर भी जीवित था। यह है भ्रमरूपी 'भीष्म'। भ्रम अन्त तक रहता है। इसी प्रकार विजातीय कर्मरूपी 'कर्ण' तथा संग्रामविजयी 'कृपाचार्य' हैं। साधनावस्था में साधक द्वारा कृपा का आचरण ही 'कृपाचार्य' है। भगवान कृपाधाम हैं और प्राप्ति के पश्चात् सन्त का भी वही स्वरूप है। किन्तु साधनकाल में जब तक हम अलग हैं, परमात्मा अलग है, विजातीय प्रवृत्ति जीवित है, मोहमयी घिराव है- ऐसी परिस्थिति में साधक यदि कृपा का आचरण करता है, तो वह नष्ट हो जाता है। सीता ने दया की, तो कुछ काल लंका में प्रायश्चित करना पड़ा। विश्वामित्र दयार्द्र हुए, पतित होना पड़ा। योगसूत्रकार महर्षि पतंजलि भी यही कहते हैं- **'ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः।'** (३/३७) व्युत्थानकाल में सिद्धियाँ प्रकट होती हैं। वे वास्तव में सिद्धियाँ हैं; किन्तु कैवल्यप्राप्ति के लिए उतनी ही बड़ी विघ्न हैं, जितने काम, क्रोध, लोभ, मोह इत्यादि। गोस्वामी तुलसीदास का भी यही निर्णय है-

छोरत ग्रन्थि जानि खगराया। विघ्न अनेक करइ तब माया।।
रिद्धि सिद्धि प्रेरइ बहु भाई। बुद्धिहिं लोभ दिखावहिं आई।।

(रामचरितमानस, ७/११७/६-७)

माया अनेक विघ्न करती है, ऋद्धियाँ प्रदान करती है, यहाँ तक कि सिद्ध बना देती है। ऐसी अवस्थावाला साधक बगल से निकल भर जाय, मरणासन्न रोगी भी जी उठेगा। वह भले ठीक हो जाय, किन्तु साधक उसे अपनी देन मान बैठे तो नष्ट हो जायेगा। एक रोगी के स्थान पर हजारों रोगी घेर लेंगे, भजन-चिन्तन का क्रम अवरुद्ध हो जायेगा और उधर बहकते-बहकते प्रकृति का बाहुल्य हो जायेगा। यदि लक्ष्य दूर है और साधक कृपा करता है, तो कृपा का अकेला आचरण ही **'समितिञ्जयः'**-समूची सेना को जीत लेगा। इसलिये साधक को पूर्तिपर्यन्त इससे सतर्क रहना चाहिए। **'दया बिनु सन्त कसाई, दया करी तो आफत आई।'** लेकिन अधूरी अवस्था में यह विजातीय प्रवृत्ति का दुर्धर्ष योद्धा है। इसी प्रकार आसक्तिरूपी अश्वत्थामा, विकल्परूपी विकर्ण और भ्रममयी श्वास ही भूरिश्रवा है। ये सभी बहिर्मुखी प्रवाह के नायक हैं।

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः।।९।।

और भी बहुत से शूरवीर अनेक शस्त्रों से युक्त मेरे लिये जीवन की आशा को त्यागकर युद्ध में डटे हैं। सभी मेरे लिये प्राण त्यागनेवाले हैं; किन्तु उनकी कोई ठोस गणना नहीं है। अब कौन-सी सेना किन भावों द्वारा सुरक्षित है? इस पर कहते हैं-

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम्।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ।।१०।।

भीष्म द्वारा रक्षित हमारी सेना सब प्रकार से अजेय है और भीम द्वारा रक्षित इन लोगों की सेना जीतने में सुगम है। 'पर्याप्त' और 'अपर्याप्त' जैसे श्लिष्ट शब्द का प्रयोग दुर्योधन की आशंका को व्यक्त करता है। अतः देखना है कि भीष्म कौन-सी सत्ता है, जिस पर कौरव निर्भर करते हैं तथा भीम कौन-सी सत्ता है, जिस पर (दैवी सम्पद्) सम्पूर्ण पाण्डव निर्भर हैं। दुर्योधन अपनी व्यवस्था देता है कि-

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि।।११।।

इसलिए सब मोर्चों पर अपनी-अपनी जगह स्थित रहते हुए आप लोग सब-के-सब भीष्म की ही सब ओर से रक्षा करें। यदि भीष्म जीवित हैं, तो हम अजेय हैं। इसलिए आप पाण्डवों से न लड़कर केवल भीष्म की ही रक्षा करें।

कैसा योद्धा है भीष्म, जो स्वयं अपनी रक्षा नहीं कर पा रहा है, कौरवों को उसकी रक्षा-व्यवस्था करनी पड़ रही है? यह कोई बाह्य योद्धा नहीं, भ्रम ही भीष्म है। जब तक भ्रम जीवित है, तब तक विजातीय प्रवृत्तियाँ (कौरव) अजेय हैं। अजेय का यह अर्थ नहीं कि जिसे जीता ही न जा सके; बल्कि अजेय का अर्थ दुर्जय है, जिसे कठिनाई से जीता जा सकता हो।

महा अजय संसार रिपु, जीति सकइ सो बीर।।

(रामचरितमानस, ६/८० क)

यदि भ्रम समाप्त हो जाय तो अविद्या अस्तित्वहीन हो जाय। मोह इत्यादि जो आंशिक रूप से बचे भी हैं, शीघ्र ही समाप्त हो जायेंगे। भीष्म की इच्छा-मृत्यु थी। इच्छा ही भ्रम है। इच्छा का अन्त और भ्रम का मिटना एक ही बात है। इसी को सन्त कबीर ने सरलता से कहा -

इच्छा काया इच्छा माया, इच्छा जग उपजाया।
कह कबीर जे इच्छा विवर्जित, ताका पार न पाया।।

जहाँ भ्रम नहीं होता, वह अपार और अव्यक्त है। इस शरीर के जन्म का कारण इच्छा है। इच्छा ही माया है और इच्छा ही जगत् की उत्पत्ति का कारण है। [**'सोऽकामयत' तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय इति' (छान्दोग्य० ६/२/३)**]। कबीर कहते हैं- जो इच्छाओं से सर्वथा रहित हैं, **'तिनका पार न पाया'** - वे अपार, अनन्त, असीम तत्त्व में प्रवेश पा जाते हैं। [**'योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति।' (बृहदारण्यक० ४/४/६)**।] जो कामनाओं से रहित आत्मा में स्थिर आत्मस्वरूप है, उसका कभी पतन नहीं होता। वह ब्रह्म के साथ एक हो जाता है। आरम्भ में इच्छायें अनन्त होती हैं और अन्ततोगत्वा परमात्म-प्राप्ति की इच्छा शेष रहती है। जब यह इच्छा भी पूरी हो जाती है,

तब इच्छा भी मिट जाती है। यदि उससे भी बड़ी कोई वस्तु होती, तो आप उसकी इच्छा अवश्य करते। जब उससे आगे कोई वस्तु है ही नहीं, तो इच्छा किसकी होगी। जब प्राप्त होने योग्य कोई वस्तु अप्राप्य न रह जाय, तो इच्छा भी समूल नष्ट हो जाती है और इच्छा के मिटते ही भ्रम का सर्वथा अन्त हो जाता है। यही भीष्म की इच्छा-मृत्यु है। इस प्रकार भीष्म द्वारा रक्षित हम लोगों की सेना सब प्रकार से अजेय है। जब तक भ्रम है, तभी तक अविद्या का भी अस्तित्व है। भ्रम शान्त हुआ, तो अविद्या भी समाप्त हो जाती है।

भीम द्वारा रक्षित इन लोगों की सेना जीतने में सुगम है। भावरूपी भीम। **'भावे विद्यते देवः'** - भाव में वह क्षमता है कि अविदित परमात्मा भी विदित हो जाता है। **'भाव बस्य भगवान, सुख निधान करुना भवन।' (रामचरितमानस, ७/९२ख)।** श्रीकृष्ण ने इसे श्रद्धा कहकर सम्बोधित किया है। भाव में वह क्षमता है कि भगवान को भी वश में कर लेता है। भाव से ही सम्पूर्ण पुण्यमयी प्रवृत्तियों का विकास है। यह पुण्य का संरक्षक है। है तो इतना बलवान् कि परमदेव परमात्मा को संभव बनाता है; किन्तु साथ ही इतना कोमल भी है कि आज भाव है, तो कल अभाव में बदलते देर नहीं लगती। आज आप कहते हैं कि महाराज बहुत अच्छे हैं। कल कह सकते हैं कि नहीं, हमने तो देखा महाराज खीर खाते हैं।

घास पात जो खात हैं, तिनहि सतावे काम।
दूध मलाई खात जे, तिनकी जाने राम।।

इष्ट में लेशमात्र भी त्रुटि प्रतीत होने पर भाव डगमगा जाता है, पुण्यमयी प्रवृत्ति विचलित हो उठती है, इष्ट से सम्बन्ध टूट जाता है, इसलिए भीम द्वारा रक्षित इन लोगों की सेना जीतने में सुगम है। महर्षि पतंजलि का भी यही निर्णय है - **'स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्काराऽऽसेवितो दृढभूमिः।' (योगसूत्र, १/१४)।** दीर्घकाल तक निरन्तर श्रद्धा-भक्तिपूर्वक किया हुआ साधन ही दृढ़ हो पाता है।

तस्य सञ्जनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान् ।।१२।।

इस प्रकार अपने बलाबल का निर्णय लेकर शंखध्वनि हुई। शंखध्वनि पात्रों के पराक्रम की घोषणा है कि जीतने पर कौन-सा पात्र आपको क्या देगा? कौरवों में वृद्ध, प्रतापवान् पितामह भीष्म ने उस दुर्योधन के हृदय में हर्ष उत्पन्न करते हुए उच्चस्वर से सिंहनाद के समान भयप्रद शंख बजाया। सिंह प्रकृति के भयावह पहलू का प्रतीक है। घोर जंगल के नीरव एकान्त में शेर की दहाड़ कान में पड़ जाय तो रोंगटे खड़े हो जायेंगे, हृदय काँपने लगेगा, यद्यपि शेर आपसे मीलों दूर है। भय प्रकृति में होता है, परमात्मा में नहीं; वह तो अभय सत्ता है। भ्रमरूपी भीष्म यदि विजयी होता है, तो प्रकृति के जिस भयारण्य में आप हैं उससे भी अधिक भय के आवरण में बाँध देगा। भय की एक परत और बढ़ जायेगी, भय का आवरण घना हो उठेगा। यह भ्रम इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं दे सकेगा। अतः प्रकृति से निवृत्ति ही गन्तव्य का मार्ग है। संसार में प्रवृत्ति तो भवाटवी है, घोर अन्धकार की छाया है। इसके आगे कौरवों की कोई घोषणा नहीं है। कौरवों की ओर से कई बाजे एक साथ बजे; किन्तु कुल मिलाकर वे भी भय ही प्रदान करते हैं, इससे अधिक कुछ नहीं। प्रत्येक विकार कुछ-न-कुछ भय तो देता ही है, इसलिए उन्होंने भी घोषणा की-

ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत्।।१३।।

तदनन्तर अनेक शंख, नगाड़े, ढोल और नरसिंहादि बाजे एक साथ ही बजे। उनका शब्द भी बड़ा भयंकर हुआ। भय का संचार करने के अतिरिक्त कौरवों की कोई घोषणा नहीं है। बहिर्मुखी विजातीय प्रवृत्ति सफल होने पर मोहमयी बन्धन और घना कर देती है।

अब पुण्यमयी प्रवृत्तियों की ओर से घोषणाएँ हुईं, जिनमें पहली घोषणा योगेश्वर श्रीकृष्ण की है-

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः।।१४।।

इसके उपरान्त श्वेत घोड़ों से युक्त (जिनमें लेशमात्र कालिमा, दोष नहीं है- श्वेत सात्त्विक, निर्मलता का प्रतीक है) - **'महति स्यन्दने'** - महान् रथ पर बैठे हुए योगेश्वर श्रीकृष्ण और अर्जुन ने भी अलौकिक शंख बजाये। अलौकिक का अर्थ है, लोकों से परे। मृत्युलोक, देवलोक, ब्रह्मलोक, जहाँ तक जन्म-मरण का भय है, उन समस्त लोकों से परे पारलौकिक, पारमार्थिक स्थिति प्रदान करने की घोषणा योगेश्वर श्रीकृष्ण की है। सोने, चाँदी, काठ का रथ नहीं; रथ अलौकिक, शंख अलौकिक, अतः घोषणा भी अलौकिक ही है। लोकों से परे एकमात्र ब्रह्म है, सीधा उससे सम्पर्क स्थापित कराने की घोषणा है। वे कैसे यह स्थिति प्रदान करेंगे?-

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनञ्जयः।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः।।१५।।

'हृषीकेशः' - जो हृदय के सर्वस्व ज्ञाता हैं, उन श्रीकृष्ण ने 'पाञ्चजन्य शंख' बजाया। पाँचों ज्ञानेन्द्रियों को पंच तन्मात्राओं (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध) के रसों से समेटकर अपने जन (भक्त) की श्रेणी में ढालने की घोषणा की। विकराल रूप से बहकती हुई इन्द्रियों को समेटकर उन्हें अपने सेवक की श्रेणी में खड़ा कर देना हृदय से प्रेरक सद्गुरु की देन है। श्रीकृष्ण एक योगेश्वर, सद्गुरु थे। **'शिष्यस्तेऽहम्'** - भगवन्! मैं आपका शिष्य हूँ। बाह्य विषय-वस्तुओं को छोड़कर ध्यान में इष्ट के अतिरिक्त दूसरा न देखें, दूसरा न सुनें, न दूसरे का स्पर्श करें, यह सद्गुरु के अनुभव-संचार पर निर्भर करता है।

'देवदत्तं धनञ्जयः' दैवी सम्पत्ति को अधीन करनेवाला अनुराग ही अर्जुन है। इष्ट के अनुरूप लगाव - जिसमें विरह, वैराग्य, अश्रुपात हो, 'गद्गद गिरा नयन बह नीरा'- रोमांच हो, इष्ट के अतिरिक्त अन्य विषय-वस्तु का लेशमात्र टकराव न होने पाये, उसी को 'अनुराग' कहते हैं। यदि यह सफल होता है, तो परमदेव परमात्मा में प्रवेश दिलाने वाली दैवी सम्पद् पर आधिपत्य प्राप्त कर लेता है। इसी का दूसरा नाम धनंजय भी है। एक धन तो बाहरी सम्पत्ति है, जिससे शरीर-निर्वाह की व्यवस्था होती है। आत्मा से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। इससे परे स्थिर आत्मिक सम्पत्ति ही निज

सम्पत्ति है। बृहदारण्यकोपनिषद् में याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी को यही समझाया कि धन से सम्पन्न पृथ्वी के स्वामित्व से भी अमृतत्व की प्राप्ति नहीं हो सकती। उसका उपाय आत्मिक सम्पत्ति है।

भयानक कर्मवाले भीमसेन ने 'पौण्ड्र' अर्थात् प्रीति नामक महाशंख बजाया। भाव का उद्‌गम और निवास-स्थान हृदय है, इसलिए इसका नाम वृकोदर है। आपका भाव, लगाव बच्चे में होता है; किन्तु वस्तुतः वह लगाव आपके हृदय में है जो बच्चे में जाकर मूर्त्त होता है। यह भाव अथाह और महान् बलशाली है। उसने प्रीति नामक महाशंख बजाया। भाव में ही प्रीति निहित है, इसीलिए भीम ने 'पौण्ड्र' (प्रीति) नामक महाशंख बजाया। भाव महान् बलवान् है; किन्तु प्रीति-संचार के माध्यम से।

हरि व्यापक सर्वत्र समाना। प्रेम ते प्रगट होहिं मैं जाना।।

(रामचरित मानस, १/१८४/५)

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ।।१६।।

कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिर ने 'अनन्त विजय' नामक शंख बजाया। कर्त्तव्यरूपी कुन्ती और धर्मरूपी युधिष्ठिर। धर्म पर स्थिरता रहेगी तो **'अनन्तविजयम्'**- अनन्त परमात्मा में स्थिति दिलायेगा। युद्धे स्थिरः सः युधिष्ठिरः। प्रकृति पुरुष क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के संघर्ष में स्थिर रहता है, महान् दुःख से भी विचलित नहीं होता तो एक दिन जो अनन्त है, जिसका अन्त नहीं है, वह है परमतत्त्व परमात्मा, उस पर विजय दिला देता है।

नियमरूपी नकुल ने 'सुघोष' नामक शंख बजाया। ज्यों-ज्यों नियम उन्नत होगा, अशुभ का शमन होता जायेगा, शुभ घोषित होता जायेगा। सत्संगरूपी सहदेव ने ' मणिपुष्पक' नामक शंख बजाया। मनीषियों ने प्रत्येक श्वास को बहुमूल्य मणि की संज्ञा दी है। **'हीरा जैसी स्वाँसा बातों में बीती जाय।'** ('बिन्दु') एक सत्संग तो वह है, जो आप सत्पुरुषों की वाणी से सुनते हैं; किन्तु यथार्थ सत्संग आन्तरिक है। श्रीकृष्ण के अनुसार, आत्मा ही सत्य है, सनातन है। चित्त सब ओर से सिमटकर आत्मा की संगत

करने लगे, यही वास्तविक सत्संग है। यह सत्संग चिन्तन, ध्यान और समाधि के अभ्यास से सम्पन्न होता है। ज्यों-ज्यों सत्य के सान्निध्य में सुरत टिकती जायेगी, त्यों-त्यों एक-एक श्वास पर नियंत्रण मिलता जायेगा, मनसहित इंद्रियों का निरोध होता जायेगा। जिस दिन सर्वथा निरोध होगा, वस्तु प्राप्त हो जायेगी। वाद्ययन्त्रों की तरह चित्त का आत्मा के स्वर में स्वर मिलाकर संगत करना ही सत्संग है।

बाह्यमणि कठोर है, किन्तु श्वासमणि पुष्प से भी कोमल है। पुष्प तो विकसित होने या टूटने पर कुम्हलाता है; किन्तु आप अगले श्वास तक जीवित रहने की गारण्टी नहीं दे सकते। किन्तु सत्संग सफल होने पर प्रत्येक श्वास पर नियंत्रण दिलाकर परम लक्ष्य की प्राप्ति करा देता है। इसके आगे पांडवों की कोई घोषणा नहीं है; किन्तु प्रत्येक साधन कुछ-न-कुछ निर्मलता के पथ में दूरी तय कराता है। आगे कहते हैं-

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः।।१७।।

कायारूपी काशी। पुरुष जब सब ओर से मनसहित इन्द्रियों को समेटकर काया में ही केन्द्रित करता है, तो **'परमेष्वासः'** - परम ईश में वास का अधिकारी हो जाता है। परम ईश में वास दिलाने में सक्षम काया ही काशी है। काया में ही परम ईश का निवास है। 'परमेष्वास' का अर्थ श्रेष्ठ धनुषवाला नहीं बल्कि परम + ईश + वास है।

शिखा-सूत्र का त्याग ही 'शिखण्डी' है। आजकल लोग सिर के बाल कटा लेते हैं और सूत्र के नाम पर गले की जनेऊ हटा लेते हैं, अग्नि जलाना छोड़ देते हैं, हो गया संन्यास उनका। नहीं, वस्तुतः शिखा लक्ष्य का प्रतीक है, जिसे आपको पाना है और सूत्र है संस्कारों का। जब तक आगे परमात्मा को पाना शेष है, पीछे संस्कारों का सूत्रपात लगा हुआ है, तब तक त्याग कैसा? संन्यास कैसा? अभी तो चलनेवाले पथिक हैं। जब प्राप्तव्य प्राप्त हो जाय, पीछे लगे हुए संस्कारों की डोर कट जाय, ऐसी अवस्था में भ्रम सर्वथा शान्त हो जाता है। इसलिये शिखण्डी ही भ्रमरूपी भीष्म का विनाश करता

है। शिखण्डी चिन्तन-पथ की विशिष्ट योग्यता है, महारथी है।

'धृष्टद्युम्नः'- दृढ़ और अचल मन तथा **'विराटः'**- सर्वत्र विराट् ईश्वर का प्रसार देखने की क्षमता इत्यादि दैवी सम्पद् के प्रमुख गुण हैं। सात्त्विकता ही सात्यकि है। सत्य के चिन्तन की प्रवृत्ति अर्थात् सात्त्विकता यदि बनी है, तो कभी गिरावट नहीं आने पायेगी। इस संघर्ष में पराजित नहीं होने देगी।

द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते।
सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान्दध्मुः पृथक्पृथक्।।१८।।

अचल पददायक द्रुपद और ध्यानरूपी द्रौपदी के पाँचों पुत्र - सहृदयता, वात्सल्य, लावण्य, सौम्यता, स्थिरता इत्यादि साधन में महान् सहायक महारथी हैं तथा बड़ी भुजावाला अभिमन्यु - इन सबने पृथक्-पृथक् शंख बजाये। भुजा कार्य-क्षेत्र का प्रतीक है। जब मन भय से रहित हो जाता है, तो उसकी पहुँच दूर तक हो जाती है।

हे राजन्! इन सबने अलग-अलग शंख बजाये। कुछ-न-कुछ दूरी सभी तय कराते हैं, इनका पालन आवश्यक है, इसलिए इनके नाम गिनाये। इसके अतिरिक्त कुछ दूरी ऐसी भी है, जो मन-बुद्धि से परे है। भगवान स्वयं ही अन्तःकरण में विराजकर तय कराते हैं। इधर दृष्टि बनकर आत्मा से खड़े हो जाते हैं और सामने स्वयं खड़ा होकर अपना परिचय करा लेते हैं।

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत्।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन्।।१९।।

उस घोर शब्द ने आकाश और पृथ्वी को भी शब्दायमान करते हुए धृतराष्ट्र-पुत्रों के हृदय विदीर्ण कर दिये। सेना तो पाण्डवों की ओर भी थी, किन्तु हृदय विदीर्ण हुए धृतराष्ट्र-पुत्रों के। वस्तुतः पाञ्चजन्य, दैवी शक्ति पर आधिपत्य, अनन्त पर विजय, अशुभ का शमन और शुभ की घोषणा धारावाही होने लगे तो कुरुक्षेत्र, आसुरी सम्पद्, बहिर्मुखी प्रवृत्तियों का हृदय विदीर्ण हो जायेगा। उनका बल शनैः-शनैः क्षीण होने लगता है। सर्वथा सफलता मिलने पर मोहमयी प्रवृत्तियाँ सर्वथा शान्त हो जाती हैं।

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान्कपिध्वजः।
प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः।।२०।।
हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते।

अर्जुन उवाच

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत।।२१।।

संयमरूपी संजय ने अज्ञान से आवृत्त मन को समझाया कि, हे राजन्! उसके उपरान्त **'कपिध्वजः'** - वैराग्यरूपी हनुमान। वैराग्य ही ध्वज है जिसका (ध्वज राष्ट्र का प्रतीक माना जाता है। कुछ लोग कहते हैं - ध्वजा चंचल थी, इसलिए कपिध्वज कहा गया। किन्तु नहीं, यहाँ कपि साधारण बन्दर नहीं स्वयं हनुमान थे, जिन्होंने मान-अपमान का हनन किया था - **'सम मान निरादर आदरहीं।' (मानस, ७/१३/८)** प्रकृति की देखी-सुनी वस्तुओं से, विषयों से राग का त्याग ही 'वैराग्य' है। अतः वैराग्य ही जिसकी ध्वजा है) उस अर्जुन ने व्यवस्थित रूप से धृतराष्ट्र-पुत्रों को खड़े देखकर शस्त्र चलने की तैयारी के समय धनुष उठाकर **'हृषिकेशम्'** - जो हृदय के सर्वस्व ज्ञाता हैं, उन योगेश्वर श्रीकृष्ण से यह वचन कहा - "हे अच्युत! (जो कभी च्युत नहीं होता) मेरे रथ को दोनों सेनाओं के बीच खड़ा करिये।" यहाँ सारथी को दिया गया आदेश नहीं, इष्ट (सद्‌गुरु) से की गई प्रार्थना है। किसलिये खड़ा करें?-

यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान्।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन्रणसमुद्यमे।।२२।।

जब तक मैं इन स्थित हुए युद्ध की कामनावालों को अच्छी प्रकार देख न लूँ कि इस युद्ध के उद्योग में मुझे किन-किन के साथ युद्ध करना योग्य है- इस युद्ध-व्यापार में मुझे किन-किन के साथ युद्ध करना है?

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः।।२३।।

दुर्बुद्धि दुर्योधन का युद्ध में कल्याण चाहनेवाले जो-जो राजा लोग इस सेना में आये हैं, उन युद्ध करनेवालों को मैं देखूँगा, इसलिए खड़ा करें।

मोहरूपी दुर्योधन। मोहमयी प्रवृत्तियों का कल्याण चाहने वाले जो-जो राजा इस युद्ध में आये हैं, उनको मैं देख लूँ।

सञ्जय उवाच

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ।।२४।।
भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम्।
उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति।।२५।।

संजय बोला - निद्राजयी अर्जुन द्वारा इस प्रकार कहे जाने पर हृदय के ज्ञाता श्रीकृष्ण ने दोनों सेनाओं के बीच भीष्म, द्रोण और '**महीक्षिताम्**' - शरीररूपी पृथ्वी पर अधिकार जमाये हुए सम्पूर्ण राजाओं के बीच उत्तम रथ को खड़ा करके कहा कि - पार्थ! इन इकट्ठे हुए कौरवों को देख। यहाँ उत्तम रथ सोने-चाँदी का रथ नहीं है। संसार में उत्तम की परिभाषा नश्वर के प्रति अनुकूलता-प्रतिकूलता से की जाती है। यह परिभाषा अपूर्ण है। जो हमारे आत्मा, हमारे स्वरूप का सदैव साथ दे, वही उत्तम है? जिसके पीछे '**अनुत्तम**'- मलिनता न हो।

तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितृनथपितामहान्।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातृन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा।।२६।।
श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि।

इसके उपरान्त अचूक लक्ष्यवाले, पार्थिव शरीर को रथ बनानेवाले पार्थ ने उन दोनों सेनाओं में स्थित पिता के भाइयों को, पितामहों को, आचार्यों को, मामाओं को, भाइयों को, पुत्रों को, पौत्रों को, मित्रों को, श्वसुरों को और सुहृदों को देखा। दोनों सेनाओं में अर्जुन को केवल अपना परिवार, मामा का परिवार, ससुराल का परिवार, सुहृद और गुरुजन दिखाई पड़े। महाभारतकाल की गणना के अनुसार अठारह अक्षौहिणी लगभग चालीस लाख के समकक्ष होता है; किन्तु प्रचलित गणना के अनुसार अठारह अक्षौहिणी साढ़े छः अरब के लगभग होता है, जो आज के विश्व की जनसंख्या के समकक्ष है। इतने मात्र के लिए यदा-कदा विश्व स्तर पर आवास, खाद्य-समस्या बन जाती है। इतना बड़ा जनसमूह

अर्जुन के तीन-चार रिश्तेदारों का परिवार मात्र था। क्या इतना बड़ा भी किसी का परिवार होता है? कदापि नहीं। यह हृदय-देश का चित्रण है।

तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान्।।२७।।
कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत्।

इस प्रकार खड़े हुए उन सम्पूर्ण बन्धुओं को देखकर अत्यन्त करुणा से आवृत्त वह कुन्तीपुत्र अर्जुन शोक करता हुआ बोला। अर्जुन शोक करने लगा; क्योंकि उसने देखा कि यह सब तो अपना परिवार ही है, अतः बोला-

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम्।।२८।।
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते।।२९।।

हे कृष्ण! युद्ध की इच्छावाले खड़े हुए इस स्वजन समुदाय को देखकर मेरे अंग शिथिल हुए जाते हैं, मुख सूखा जाता है और मेरे शरीर में कम्प तथा रोमाञ्च हो रहा है। इतना ही नहीं-

गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः।।३०।।

हाथ से गाण्डीव गिरता है, त्वचा भी जल रही है। अर्जुन को ज्वर-सा हो आया, संतप्त हो उठा कि यह कैसा युद्ध है, जिसमें स्वजन ही खड़े हैं? अर्जुन को भ्रम हो गया। वह कहता है - अब मैं खड़ा रह पाने में भी अपने को असमर्थ पा रहा हूँ, अब आगे देखने की सामर्थ्य नहीं है।

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे।।३१।।

हे केशव! इस युद्ध का लक्षण भी विपरीत ही देखता हूँ। युद्ध में अपने कुल को मारकर परमकल्याण भी नहीं देखता हूँ। कुल को मारने से कल्याण कैसे होगा?

न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा।।३२।।

सम्पूर्ण परिवार युद्ध के मुहाने पर है। इन्हें युद्ध में मारकर विजय, विजय से मिलनेवाला राज्य और राज्य से मिलनेवाला सुख अर्जुन को नहीं चाहिए। वह कहता है - कृष्ण! मैं विजय नहीं चाहता, राज्य तथा सुख भी नहीं चाहता। गोविन्द! हमें राज्य या भोग अथवा जीवन से भी क्या प्रयोजन है? क्यों? इस पर कहता है-

येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च।।३३।।

हमें जिनके लिए राज्य, भोग और सुखादिक इच्छित हैं, वे ही परिवार जीवन की आशा त्यागकर युद्ध के मैदान में खड़े हैं। हमें राज्य इच्छित था तो परिवार को लेकर; भोग, सुख और धन की पिपासा थी, तो स्वजन और परिवार के साथ उन्हें भोगने की थी; किन्तु जब सब-के-सब प्राणों की आशा त्यागकर खड़े हैं, तो मुझे सुख, राज्य या भोग नहीं चाहिए। यह सब इन्हीं के लिए प्रिय थे। इनसे अलग होने पर हमें इनकी आवश्यकता नहीं है। जब तक परिवार रहेगा, तभी तक ये वासनाएँ भी रहती हैं। झोपड़ी में रहनेवाला भी अपने परिवार, मित्र और स्वजन को मारकर विश्व का साम्राज्य स्वीकार नहीं करेगा। अर्जुन भी यही कहता है कि हमें भोग प्रिय थे, विजय प्रिय थी; किन्तु जिनके लिए थी, जब वे ही नहीं रहेंगे तो भोगों से क्या प्रयोजन? इस युद्ध में मारना किसे है?-

आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा।।३४।।

इस युद्ध में आचार्य, ताऊ, चाचे, लड़के और इसी प्रकार दादा, मामा, श्वसुर, पोते, साले तथा समस्त सम्बन्धी ही हैं।

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते।।३५।।

हे मधुसूदन! मुझे मारने पर भी अथवा तीन लोक के राज्य के लिए भी मैं इन सबको मारना नहीं चाहता, फिर पृथ्वी के लिये कहना ही क्या है।

अठारह अक्षौहिणी सेना में अर्जुन को अपना परिवार ही दिखायी पड़ा।

इतने अधिक स्वजन वास्तव में क्या हैं? वस्तुतः अनुराग ही अर्जुन है। भजन के आरम्भ में प्रत्येक अनुरागी के समक्ष यही समस्या रही है। सभी चाहते हैं कि हम भजन करें, उस परमसत्य को पा लें; किन्तु किसी अनुभवी सद्गुरु के संरक्षण में कोई अनुरागी जब क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के संघर्ष को समझता है कि हमें किनसे लड़ना है, तो वह हताश हो जाता है। वह चाहता है कि हमारे पिता का परिवार, ससुराल का परिवार, मामा का परिवार, सुहृद, मित्र और गुरुजन साथ रहें, सभी सुखी रहें और इन सबकी व्यवस्था करते हुए हम परमात्म- स्वरूप की प्राप्ति भी कर लें। किन्तु जब वह समझता है कि आराधना में अग्रसर होने के लिए परिवार छोड़ना होगा, इन सम्बन्धों का मोह समाप्त करना होगा, तो वह अधीर हो उठता है।

पूज्य महाराज जी कहा करते थे- ''मरना और साधु होना बराबर है। साधु के लिए सृष्टि में दूसरा कोई जीवित है भी; किन्तु घरवालों के नाम पर कोई नहीं है। यदि कोई है, तो लगाव है, मोह समाप्त कहाँ हुआ? जहाँ तक लगाव है उसका पूर्ण त्याग, उस लगाव के सअस्तित्व मिटने पर ही उसकी विजय है। इन सम्बन्धों का प्रसार ही तो जगत् है, अन्यथा जगत् में हमारा क्या है?'' **'तुलसीदास कह चिद्विलास जग, बूझत बूझत बूझै।' (विनयपत्रिका, १२४)** मन का प्रसार ही जगत् है। योगेश्वर श्रीकृष्ण ने भी मन के प्रसार को ही जगत् कहकर सम्बोधित किया। जिसने इसके प्रभाव को रोक लिया, उसने चराचर जगत् ही जीत लिया- **'इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।' (गीता, ५/१९)**

केवल अर्जुन ही अधीर था, ऐसी बात नहीं है। अनुराग सबके हृदय में है। प्रत्येक अनुरागी अधीर होता है, उसे सम्बन्धी याद आने लगते हैं। पहले वह सोचता था कि भजन से कुछ लाभ होगा, तो ये सब सुखी होंगे। इनके साथ रहकर उसे भोगेंगे। जब ये साथ ही नहीं रहेंगे, तो सुख लेकर क्या करेंगे? अर्जुन की दृष्टि राज्य-सुख तक ही सीमित थी। वह त्रिलोकी के साम्राज्य को ही सुख की पराकाष्ठा समझता था। इसके आगे भी कोई सत्य है, इसकी जानकारी अर्जुन को अभी नहीं है।

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन।
पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ।।३६।।

हे जनार्दन! धृतराष्ट्र के पुत्रों को मारकर भी हमें क्या प्रसन्नता होगी? जहाँ धृतराष्ट्र अर्थात् धृष्टता का राष्ट्र है, उससे उत्पन्न मोहरूपी दुर्योधन इत्यादि को मारकर भी हमें क्या प्रसन्नता होगी? इन आततायियों को मारकर हमें पाप ही तो लगेगा। जो जीवनयापन के तुच्छ लाभ के लिए अनीति अपनाता है, वह आततायी कहलाता है; किन्तु वस्तुतः इससे भी बड़ा आततायी वह है, जो आत्मा के पथ में अवरोध उत्पन्न करता है। आत्मदर्शन में बाधक काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि का समूह ही आततायी है।

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान्।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव।।३७।।

इससे हे माधव! अपने बान्धव धृतराष्ट्र के पुत्रों को मारने के लिये हम योग्य नहीं हैं। स्व-बान्धव कैसे? वे तो शत्रु थे न! वस्तुतः शरीर के रिश्ते अज्ञान से उत्पन्न होते हैं। यह मामा है, ससुराल है, स्वजन समुदाय है- यह सब अज्ञान ही तो है। जब शरीर ही नश्वर है, तब इसके रिश्ते ही कहाँ रहेंगे? मोह है तभी तक सुहृद हैं, हमारा परिवार है, हमारी दुनिया है। मोह नहीं तो कुछ भी नहीं। इसीलिए वे शत्रु भी अर्जुन को स्वजन दिखायी पड़े। वह कहता है कि अपने कुटुम्ब को मारकर हम कैसे सुखी होंगे। यदि अज्ञान और मोह न रहे तो कुटुम्ब का अस्तित्व न हो। यह अज्ञान ज्ञान का प्रेरक भी है। भर्तृहरि, तुलसी इत्यादि अनेक महानुभावों को वैराग्य की प्रेरणा पत्नी से मिली, तो कोई सौतेली माँ के व्यवहार से खिन्न होकर वैराग्य-पथ पर अग्रसर हुआ दिखायी देता है।

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम्।।३८।।

यद्यपि लोभ से भ्रष्टचित्त हुए ये लोग कुलनाश के दोष और मित्रद्रोह के पाप को नहीं देखते हैं, यह उनकी कमी है; फिर भी-

कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम्।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन।।३९।।

हे जनार्दन! कुलनाश से होनेवाले दोषों को जाननेवाले हमलोगों को इस पाप से हटने के लिये क्यों नहीं विचार करना चाहिए? मैं ही पाप करता हूँ, ऐसी बात नहीं, आप भी भूल करने जा रहे हैं- श्रीकृष्ण पर भी आरोप लगाया। अभी वह समझ में अपने को श्रीकृष्ण से कम नहीं मानता। प्रत्येक नया साधक सद्गुरु की शरण जाने पर इसी प्रकार तर्क करता है और अपने को जानकारी में कम नहीं समझता। यही अर्जुन भी कहता है कि ये भले न समझें, किन्तु हम-आप तो समझदार हैं। कुलनाश के दोषों पर हमें विचार करना चाहिए। कुलनाश में दोष क्या है?-

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत।।४०।।

कुल के नाश होने से सनातन कुलधर्म नष्ट हो जाते हैं। अर्जुन कुलधर्म, कुलाचार को ही सनातन धर्म समझ रहा था। धर्म के नाश होने पर सम्पूर्ण कुल को पाप भी बहुत दबा लेता है।

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसङ्करः।।४१।।

हे कृष्ण! पाप के अधिक बढ़ जाने से कुल की स्त्रियाँ दूषित हो जाती हैं। हे वार्ष्णेय! स्त्रियों के दूषित होने पर वर्णसंकर उत्पन्न होता है। अर्जुन की मान्यता थी कि कुल की स्त्रियों के दूषित होने से वर्णसंकर होता है; किन्तु श्रीकृष्ण ने इसका खण्डन करते हुए आगे बताया कि मैं अथवा स्वरूप में स्थित महापुरुष यदि आराधना-क्रम में भ्रम उत्पन्न कर दें, तब वर्णसंकर होता है। वर्णसंकर के दोषों पर अर्जुन प्रकाश डालता है-

सङ्करो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः।।४२।।

वर्णसंकर कुलघातियों और कुल को नरक में ले जाने के लिये ही होता है। लुप्त हुई पिण्डक्रियावाले इनके पितर लोग भी गिर जाते हैं। वर्तमान

नष्ट हो जाता है, अतीत के पितर गिर जाते हैं और भविष्यवाले भी गिरेंगे। इतना ही नहीं,

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसङ्करकारकैः।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः।।४३।।

इन वर्णसंकरकारक दोषों से कुल और कुलघातियों के सनातन कुलधर्म और जातिधर्म नष्ट हो जाते हैं। अर्जुन मानता था कि कुलधर्म सनातन है, कुलधर्म ही शाश्वत है। किन्तु श्रीकृष्ण ने इसका खण्डन किया और आगे बताया कि आत्मा ही सनातन, शाश्वत धर्म है। वास्तविक सनातन धर्म को जानने से पहले मनुष्य धर्म के नाम पर किसी न किसी रूढ़ि को जानता है। ठीक इसी प्रकार अर्जुन भी जानता है, जो श्रीकृष्ण के शब्दों में एक रूढ़ि है।

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन।
नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम।।४४।।

हे जनार्दन! नष्ट हुए कुलधर्मवाले मनुष्यों का अनन्तकाल तक नरक में वास होता है, ऐसा हमने सुना है। केवल कुलधर्म ही नहीं नष्ट होता, बल्कि शाश्वत, सनातन धर्म भी नष्ट हो जाता है। जब धर्म ही नष्ट हो गया, तो ऐसे पुरुष का अनन्तकाल तक नरक में निवास होता है, ऐसा हमने सुना है। देखा नहीं, सुना है।

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः।।४५।।

अहो! शोक है कि हमलोग बुद्धिमान् होकर भी महान् पाप करने को तैयार हुए हैं। राज्य और सुख के लोभ से अपने कुल को मारने के लिये उद्यत हुए हैं।

अभी अर्जुन अपने को कम ज्ञाता नहीं समझता। आरम्भ में प्रत्येक साधक इसी प्रकार बोलता है। महात्मा बुद्ध का कथन है कि मनुष्य जब अधूरी जानकारी रखता है, तो अपने को महान् ज्ञानी समझता है और जब आधे से आगे की जानकारी हासिल करने लगता है, तो अपने को महान् मूर्ख समझता है। ठीक इसी प्रकार अर्जुन भी अपने को ज्ञानी ही समझता है।

वह श्रीकृष्ण को ही समझाता है कि इस पाप से परमकल्याण हो, ऐसी बात भी नहीं, केवल राज्य और सुख के लोभ में पड़कर हमलोग कुलनाश करने को उद्यत हुए हैं- महान् भूल कर रहे हैं। हम ही भूल कर रहे हैं- ऐसी बात नहीं, आप भी भूल कर रहे हैं। एक धक्का श्रीकृष्ण को भी दिया। अन्त में अर्जुन अपना निर्णय देता है-

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत्।।४६।।

यदि मुझ शस्त्ररहित, न सामना करनेवाले को शस्त्रधारी धृतराष्ट्र के पुत्र रण में मारें, तो उनका वह मारना भी मेरे लिये अति कल्याणकारक होगा। इतिहास तो कहेगा कि अर्जुन समझदार था, जिसने अपनी बलि देकर युद्ध बचा लिया। लोग प्राणों की आहुति दे डालते हैं कि भोले-भाले मासूम बच्चे सुखी रहें, कुल तो बचा रहे। मनुष्य विदेश चला जाय, वैभवपूर्ण प्रासाद में रहे; किन्तु दो दिन बाद उसे अपनी छोड़ी हुई झोपड़ी याद आने लगती है। मोह इतना प्रबल होता है। इसीलिये अर्जुन कहता है कि शस्त्रधारी धृतराष्ट्र के पुत्र मुझ न प्रतिकार करनेवाले को रण में मार दें, तब भी वह मेरे लिये अति कल्याणकारी होगा ताकि लड़के तो सुखी रहें।

सञ्जय उवाच

एवमुक्त्वार्जुनः सङ्ख्ये रथोपस्थ उपाविशत्।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः।।४७।।

संजय बोला कि रणभूमि में शोक से उद्विग्न मनवाला अर्जुन इस प्रकार कहकर, बाणसहित धनुष को त्यागकर रथ के पिछले भाग में बैठ गया अर्थात् क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के संघर्ष में भाग लेने से पीछे हट गया।

निष्कर्ष-

गीता क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के युद्ध का निरूपण है। यह ईश्वरीय विभूतियों से सम्पन्न भगवत्स्वरूप को दिखानेवाला गायन है। यह गायन जिस क्षेत्र में होता है, वह युद्धक्षेत्र शरीर है। जिसमें दो प्रवृत्तियाँ हैं- धर्मक्षेत्र और कुरुक्षेत्र। इन सेनाओं का स्वरूप और उनके बल का आधार बताया, शंखध्वनि से

उनके पराक्रम की जानकारी मिली। तदनन्तर जिस सेना से लड़ना है, उसका निरीक्षण हुआ। जिसकी गणना अठारह अक्षौहिणी (लगभग साढ़े छः अरब) कही जाती है; किन्तु वस्तुतः वे अनन्त हैं। प्रकृति के दृष्टिकोण दो हैं- एक इष्टोन्मुखी प्रवृत्ति 'दैवी सम्पद्', दूसरी बहिर्मुखी प्रवृत्ति 'आसुरी सम्पद्'। दोनों प्रकृति ही हैं। एक इष्ट की ओर उन्मुख करती है, परमधर्म परमात्मा की ओर ले जाती है और दूसरी प्रकृति में विश्वास दिलाती है। पहले दैवी सम्पद् को साधकर आसुरी सम्पद् का अन्त किया जाता है, फिर शाश्वत सनातन परब्रह्म के दिग्दर्शन और उसमें स्थिति के साथ दैवी सम्पद् की आवश्यकता शेष हो जाती है, युद्ध का परिणाम निकल आता है।

अर्जुन को सैन्य निरीक्षण में अपना परिवार ही दिखायी पड़ता है, जिसे मारना है। जहाँ तक सम्बन्ध है, उतना ही जगत् है। अनुराग के प्रथम चरण में पारिवारिक मोह बाधक बनता है। साधक जब देखता है कि मधुर सम्बन्धों से इतना विच्छेद हो जायेगा, जैसे वे थे ही नहीं, तो उसे घबराहट होने लगती है। स्वजनासक्ति को मारने में उसे अकल्याण दिखायी देने लगता है। वह प्रचलित रूढ़ियों में अपना बचाव ढूँढ़ने लगता है, जैसा अर्जुन ने किया। उसने कहा, ''कुलधर्म ही सनातन धर्म है। इस युद्ध से सनातन धर्म नष्ट हो जायेगा, कुल की स्त्रियाँ दूषित होंगी, वर्णसंकर पैदा होगा, जो कुल और कुलघातियों को अनन्तकाल तक नरक में ले जाने के लिये ही होता है।'' अर्जुन अपनी समझ से 'सनातन धर्म' की रक्षा के लिये विकल है। उसने श्रीकृष्ण से अनुरोध किया कि हमलोग समझदार होकर भी यह महान् पाप क्यों करें? अर्थात् श्रीकृष्ण भी पाप करने जा रहे हैं। अन्ततोगत्वा पाप से बचने के लिये 'मैं युद्ध नहीं करूँगा'- ऐसा कहता हुआ हताश अर्जुन रथ के पिछले भाग में बैठ गया। क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के संघर्ष से पीछे हट गया।

टीकाकारों ने इस अध्याय को 'अर्जुन विषाद योग' कहा है। अर्जुन अनुराग का प्रतीक है। सनातन धर्म के लिये विकल होनेवाले अनुरागी का विषाद योग का कारण बनता है। यही विषाद मनु को हुआ था। **'हृदय बहुत दुःख लाग, जनम गयउ हरि भगति बिनु।'** (रामचरितमानस, १/१४२)

संशय में पड़कर ही मनुष्य विषाद करता है। उसे संदेह था कि वर्णसंकर पैदा होगा, जो नरक में ले जायेगा। सनातन धर्म के नष्ट होने का भी उसे विषाद था। अतः 'संशय-विषाद योग' का सामान्य नामकरण इस अध्याय के लिये उपयुक्त है। अतः-

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसम्वादे 'संशयविषादयोगो' नाम प्रथमोऽध्यायः।।१।।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् एवं ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्र विषयक श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में 'संशय-विषाद योग' नामक प्रथम अध्याय पूर्ण होता है।

इति श्रीमत् परमहंसपरमानन्दस्य शिष्यस्वामीअड़गड़ानन्दकृते श्रीमद्भगवद्गीतायाः 'यथार्थगीता' भाष्ये 'संशयविषादयोगो' नाम प्रथमोऽध्यायः।।१।।

।।हरिः ॐ तत् सत्।।